Chapter - 2

:: द्वितीय अध्याय ::

:: प्रेमचंद के उपन्यासों के पुनर्मूल्यांकन की उपादेयता ::

:: द्वितीय अध्याय ::

:: पुनर्मूल्यांकन की उपादेयता ::

प्रास्ताविक :

मनुष्य अपूर्ण है । अतः मनुष्य द्वारा अर्जित एवं संपादित ज्ञान-विज्ञान तथा साहित्य में भी परिपूर्णता का अभाव तो रहेगा ही । ज्ञान-विज्ञान तथा शास्त्रों में भी नये-नये सिद्धान्तों का अन्वेषण तथा प्रस्थापित सिद्धान्तों के पुनर्मूल्यांकन एवं पुनराशीलन की प्रवृत्ति रहती है । तो फिर साहित्य में तो यह प्रवृत्ति रहेगी ही , क्योंकि साहित्य के क्षेत्र में कोई भी बात अंतिम रूप से नहीं कही जा सकती है । अंग्रेजी के कवि-आलोचक टी.एस. एलियट ने काव्य के सन्दर्भ में कलागत निरपेक्षता की बात करते हुए कहा — " There is always a seperation between the artist who creats

and the person who suffers The greater the difference the grter the artist.

" । अर्थात् भोगनेवाले प्राणी तथा रचना करने वाले कलाकार में हमेशा एक दूरी रहेगी , और यह दूरी जितनी ही ज्यादा होगी , वह उतना ही बड़ा कलाकार माना जायेगा । परन्तु टी॰एस॰ एलियट के सिद्धान्त को आज भी बहुत से आलोचक नहीं मानते । योरोपीय समीक्षा में काव्य के प्रयोजनों को लेकर "कला कला के लिए " वाद चला , परन्तु उस समय भी , तथा इस समय भी कई ऐसे विचारक हैं , जो कला कला के लिए " के सिद्धान्त को न मानते हुए "कला जीवन के लिए " के सिद्धान्त को मानते हैं । साहित्यिक विचार-प्रवाहों में आज भी रूपवाद , कलावाद और वस्तुवाद , यथार्थवाद को लेकर बहसें चल रही हैं । वस्तु और शिल्प में , भावपक्ष और कलापक्ष में किसको प्राधान्य दिया जाय उसकी चर्चाएं न जाने कबसे चल रही हैं । ज्ञान-विज्ञान में जो नवीन खोज या आविष्कार होते हैं वे तब तक स्थापित रहते हैं , जब तक कोई दूसरा वैज्ञानिक उसे गलत न सिद्ध कर दे ; परन्तु साहित्य में ऐसा नहीं है । यहां किसी एक ही विषय को लेकर अनेक समानांतर विचार-प्रवाह चलते ही रहते हैं । एक कविता में कहा गया है —

" दो और दो ही चार नहीं होते
और भी तरीके हैं ,
अकीदे हैं और भी ,
उन तरीकों और अकीदों की इज्जत ,
नये रास्तों की तलाश
जिन्दगी को हमेशा रहती है ,
नये प्रयोगों की जरूरत । " 2

अभिप्राय यह कि साहित्य तो संभावनाओं का क्षेत्र है , अतः यहां कोई भी बात , कोई भी नियम , कोई भी सिद्धान्त अंतिम नहीं

होता है, अतएव यहाँ कृतित्व के मूल्यांकन और पुनर्मूल्यांकन की दरकार हमेशा रहेगी ।

साहित्य के अध्ययन की अनेकानेक संभावनाएँ :

साहित्य और शास्त्र में एक मूलभूत अंतर यह होता है कि शास्त्र में जहाँ निश्चितता है, वहाँ साहित्य में किसी भी प्रकार की निश्चितता नहीं होती । साहित्य के क्षेत्र में अधिकारपूर्वक "इदम् इत्थम्" नहीं कहा जा सकता । किसी भी स्थिति या वस्तु को देखने के दो तरीके होते हैं — विषयगत (objective) और विषयी-गत (Subjective) । शास्त्रों में दृष्टिकोण विषयगत रहता है, जबकि साहित्य में वह कई बार विषयीगत हो जाता है । चित्र-शिक्षक यह जानते हैं कि चित्र बनाने के जो कई तरीके हैं, उनमें एक तरीका "पदार्थचित्र" का होता है । यहाँ पर सामने कोई वस्तु या वस्तुसमूह रख जाता है, और विद्यार्थियों को कहा जाता है कि वे जहाँ बैठे हैं, वहाँ से वह पदार्थ जैसा दिखता है, उसका वैसा चित्र वे तैयार करें । फलतः सभी के चित्र भिन्न-भिन्न प्रकार के बनते हैं । जिस कोण से वे उसे देखते हैं, जिस Angle से वे देखते हैं, उसके अनुसार चित्र बनता है । साहित्य की स्थिति भी पदार्थचित्र के निर्माण जैसी है । एक व्यक्ति उसका रसास्वाद एक ढंग से करता है, तो दूसरा व्यक्ति उसका रसास्वादन दूसरे ढंग से करता है । हमारे यहाँ रीतिकालीन साहित्य को लेकर आचार्य विश्वनाथ प्रसाद मिश्र, डा० भगीरथ मिश्र, तथा डा० विजयपालसिंह प्रभृति विद्वानों के जो दृष्टिकोण हैं वे आचार्य रामचन्द्र शुक्ल के दृष्टिकोण से अलग पड़ते हैं । शुक्लजी रीतिकालीन कविता की आलोचना करते हुए कहते हैं — "जो लोग मनोरंजन को ही काव्य का लक्ष्य समझते हैं, वे यदि कविता में चमत्कार ही ढूंढा करें तो आश्चर्य

की बात नहीं, पर जो लोग उसे ऊँचा और श्रेष्ठ लक्ष्य समझते हैं, वे चमत्कार मात्र को काव्य नहीं मान सकते। ... अब इनके सामने उन केवल चमत्कार वाली उक्तियों का विचार कीजिए जिनमें कहीं कोई कवि किसी राजा की कीर्ति की धवलता चारों ओर फैली देख यह आशंका प्रकट करता है, कि कहीं मेरी स्त्री के बाल भी सफेद न हो जाय अथवा प्रभात होने पर कौओं में कांव कांव का कारण यह भेद बताता है कि कालिमा या अंधकार का नाश करके सूर्य प्रफुल्ल हुए कहीं उन्हें काला देख उनका भी नाश न कर दें।... केशव की रामचन्द्रिका में पचासों ऐसे पद हैं जिनमें अलंकारों की भद्दी भर्ती के चमत्कार के सिवा हृदय को स्पर्श करने वाली या किसी भावना में मग्न करने वाली कोई बात न मिलेगी।"[3]

रीतिकाल के कवियों में ही बिहारी की तुलना में देव के प्रति उनका पक्षपात साफ झलकता है। "सांसन ही सों समीर गयो" वाले सवैये की वे भूरि-भूरि प्रशंसा करते हैं, दूसरी तरफ बिहारी की आलोचना करते हुए वे लिखते हैं — "इसके विरुद्ध बिहारी की उन उक्तियों में जिनमें विरहिणी के शरीर के पास से जाने भाग से शीशी का गुलाब-जल सूख जाता है, उसके विरह-ताप की लपट के मारे माघ के महीने में भी पड़ोसियों का रहना कठिन हो जाता है, दुर्बलता के कारण विरहिणी सांस खींचने के साथ दो-चार हाथ पीछे और सांस छोड़ने के साथ दो-चार हाथ आगे उड़ जाती है, अत्युक्ति का एक बड़ा तमाशा ही खड़ा किया गया है। कहाँ यह सब मजाक, कहाँ विरह वेदना!"[4]

इस प्रकार हम देख सकते हैं कि एक तरफ बिहारी के दोहों पर बलि-बलि जाने वाले लोग हैं, तो दूसरी तरफ आचार्य रामचन्द्र शुक्ल जैसे आलोचक हैं, जो ऐसे चमत्कारवाद को हीन दृष्टि से देखते हैं। आचार्य रामचन्द्र शुक्ल की आलोचना में गोस्वामी तुलसीदास के

प्रति पक्षपात साफ झलकता है । आचार्य हजारीप्रसाद द्विवेदी कबीर का पक्ष लेते हैं । हिन्दी के इन दो मूर्धन्य आलोचकों एवं विद्वानों में में जो मतभेद है, वह उनके दृष्टिभेद के कारण है । दोनों के मानदण्ड अलग-अलग हैं । नजरिये अलग-अलग हैं । यह साहित्य में ही संभव हो सकता है । अन्य विषयों और शास्त्रों में एक ऐसा नहीं होता ।

साहित्येतर अन्य विषय matter of Facts पर आधारित होते हैं, परन्तु साहित्य में केवल कोरा सत्य नहीं होता । फलतः दूसरे विषयों में सही और गलत के फैसले प्रत्यक्ष होते हैं, क्योंकि वहाँ ये दो ही आयाम होते हैं । साहित्य में कोई बात शत-प्रतिशत सही नहीं होती और शत-प्रतिशत गलत भी नहीं होती । पाश्चात्य चिंतक प्लेटो अपने आदर्श राज्य से कवियों को निष्कासित कर देने की बात करता था । प्लेटो का ही शिष्य अरस्तू प्लेटो के मत का खंडन करता है । परन्तु आज भी हम देख सकते हैं कि प्लेटो की बात एकदम गलत तो नहीं थी । अभिप्राय यह कि साहित्य के क्षेत्र में किसी एक मतवाद के स्थापित होने के उपरांत भी पूर्ववर्ती मतवाद समाप्त नहीं हो जाते ।

काव्य या साहित्य में एक ही वस्तु के निरूपण के कई-कई तौर-तरीके होते हैं । एक कवि या लेखक किसी एक बात को एक तरह से कहता है, तो दूसरा लेखक या कवि उसे दूसरे ढंग से कहता है । उदाहरणतया मान लीजिए कि एक व्यक्ति अपने घर-परिवार से अलग कहीं दूर देश में पड़ा है । वह अपने बारे में सोचता है कि "साली यह तो कोई जिन्दगी है । " तो उसके भावों की अभिव्यक्ति का यह एक रूप हुआ । इसी प्रसंग को कोई इस प्रकार भी चित्रित कर सकता है : " सूर्य अस्ताचल को जा रहा था । पश्चिम के आकाश में सिन्दूरी सन्ध्या खिल उठी थी । पंछियों का एक झुण्ड जा रहा था, जिसे देखकर वह सोचता है कि पशु-पक्षियों के भी अपने घर होते हैं । "

तो अभिव्यक्ति का यह एक दूसरा रूप हुआ । ऊपर जो बात कही गई है, वह उसके अभिव्यक्ति-पक्ष को लेकर है । परन्तु जो अभिव्यक्त किया गया है, उसे भी भिन्न-भिन्न भावक अपने-अपने दृष्टिकोण से समझते हैं और इसलिए उनका आकलन एक प्रकार का नहीं रहता ।

काव्यकृति या कलाकृति पर कोई चाहे कितना कहे, परन्तु फिर भी कुछ अनकहा रह जाता है । यही कारण है कि "मानस", "बिहारी सतसई" या "गीता" जैसे ग्रन्थों की अनेकानेक टीकाएं मिलती हैं । गीता पर भारत के लगभग प्रत्येक महापुरुष ने अपने-अपने ढंग से लिखा है । ये सब साहित्य के ग्रन्थ हैं और साहित्यिक कृतियाँ न केवल अपनी अभिव्यक्ति में अपितु अर्थवत्ता में भी सदैव अपूर्ण रहती हैं ।

कई बार कुछ लोगों को कहते हुए सुना जाता है कि प्रेमचन्द को या जैनेन्द्र को या अज्ञेय को, जितनी ही बार पढ़ो, उतनी बार कुछ नयी बातें सामने आती हैं और प्रत्येक बार हमें उनकी कृतियों को पढ़ने में आनंदानुभूति होती है । ई.एम. फारस्टर इसे काव्य की

कहते हैं ।[5] xxxx कदाचित हमारे यहाँ काव्य और कला की देवी सरस्वती के कौमार्यावस्था की कल्पना इसीलिए की गई हो । अंग्रेजी के कवि कीट्स भी कहते हैं — "

" xxxxxx अर्थात् सुन्दरता का आनंद सदैव लिया जा सकता है । कारण उससे कभी तृप्ति नहीं होती । काव्य, भक्ति, प्रेम आदि विषय "हद" के हैं ही नहीं ; ये सब तो "अनहद" के विषय हैं और जहाँ "अनहद" की ओर यात्रा होती है वहाँ उनकी संभावनाओं का क्षेत्र भी असीम होता है ।

कई बार किसी मेधावी प्रतिभासंपन्न लेखक या कवि के कथन के मूल पाठ में कई निहितार्थ रहते हैं और देशकाल की सापेक्षता में

उसके भिन्न-भिन्न अर्थ विद्वान निकालते हैं । सम्प्रति आलोचना के चौथे अंक में बाबू भारतेन्दु के अतिचर्चित "भारतवर्ष की उन्नति कैसे हो सकती है ? " नामक व्याख्यान के मूल पाठ की प्रस्तुति के साथ हिन्दी के मूर्धन्य आलोचक डा. नामवरसिंह एक बहस चलाई थी जिसमें उन्होंने भारतेन्दुजी के इस "बलियावाले व्याख्यान " के सन्दर्भ में डा. रामविलास शर्मा , डा. सुधीरचन्द्र , डा. ज्ञानेन्द्र पाँडेय , डा. वसुधा डालमिया , डा. रोनाल्ड स्टुअर्ट मेक्ग्रेगर प्रभृति विद्वानों के नाना मतों को अभिव्यक्त किया है । अभिप्राय यह कि एक ही पाठ में अलग-अलग विद्वानों को अलग-अलग बातें सूझती हैं । ऐसा साहित्य में ही होता है ।

अतएव कहा जा सकता है कि साहित्य या काव्य की संभावनाएँ अनेक और असीम होती हैं । अतः हम किसी कवि या साहित्यकार का xxxx अध्ययन बार-बार कर सकते हैं । उसमें मूल्यांकन और पुनर्मूल्यांकन की प्रक्रिया अविरत गति से चलती रहती है ।

प्रस्तुत शोध-प्रबंध में हमारा उपक्रम निम्नलिखित मुद्दों को केन्द्रस्थ करते हुए प्रेमचन्दजी के उपन्यासों का पुनर्मूल्यांकन है :—

(क) प्रेमचन्द के उपन्यासों की प्रासंगिकता का सवाल

(ख) समकालीन उपन्यास-साहित्य के सन्दर्भ में प्रेमचन्द के उपन्यासों का मूल्यांकन

(ग) प्रेमचन्द के जीवकालीन अनुभवों के सन्दर्भ में उनके उपन्यासों का अध्ययन

(घ) दलित-विमर्श के सन्दर्भ में प्रेमचन्द के उपन्यासों का मूल्यांकन ।

(क) प्रेमचन्द के उपन्यासों की प्रासंगिकता का सवाल :

साहित्य , विशेषतः कथा-साहित्य से जुड़ा हुआ एक

(क) प्रेमचन्द के उपन्यासों की प्रासंगिकता का सवाल :

साहित्य , विशेषतः कथा-साहित्य से जुड़ा हुआ एक सनातन प्रश्न है उसकी प्रासंगिकता का । लेखक अपने देशकाल की समस्याओं को चित्रित करता है । इन समस्याओं में कुछ तो मानव-जीवन की मूलभूत प्रवृत्तियों ( ) से सम्बद्ध होती हैं और कुछ समसामयिक भी होती हैं । जब समसामयिक समस्याओं पर लिखा जाता है , तब तत्काल तो उसका खूब प्रभाव पड़ता है , बहुत-से लोगों द्वारा वह कृति सराही भी जाती है ; परन्तु उन समस्याओं के न रहने पर उनका फिर वैसा प्रभाव नहीं रहता । अतः बहुत से लोग समसामयिक परिस्थितियों पर लिखने से कतराते हैं । परंतु यहाँ एक दूसरा प्रश्न हमारे सम्मुख उपस्थित होता है कि केवल इसलिए लेखक समसामयिक समस्याओं को न उठावे कि बाद में उनकी कृति का कोई सर्वकालीन मूल्य नहीं रहेगा ? तो क्या यह उनकी कुण्ठा नहीं होगी ? उनकी यशलिप्सा नहीं होगी ? क्या लेखक का समाज के प्रति , समाज के ज्वलन्त-प्रश्नों के प्रति कोई दायित्व नहीं है ? लेखक या कवि को तो सात्विकधर्मा माना गया है । दूसरों की पीड़ा से यदि उसका मन द्रवित नहीं होता , तो फिर उसके लेखक होने का अर्थ क्या रह जायगा ? इस सन्दर्भ में नोबल प्राइज विजेता साहित्यकार , चेक-कवि यारोस्लाव सेफर्त के इन शब्दों का उल्लेख अप्रासंगिक न होगा -- " यदि सामान्य मनुष्य ऐसे समय में (सामाजिक करवटों के समय में) मौन रहता है , तो उसमें उसकी कोई योजना हो सकती है , किन्तु ऐसे समय में यदि लेखक मौन रहता है , तो वह झूठ बोल रहा है । "[7]

उक्त कथन से स्पष्ट होता है कि ऐसे समय में लेखक का मौन रह जाना उसकी बेईमानी होगी । सत्तर के दशक में स्व. इन्दिरा

गांधी ने जब आपातकालीन स्थिति [Emergency] की घोषणा की थी, तब हिन्दी तथा गुजराती के कुछ गिने-गिने लोगों को छोड़कर बाकी तमाम-तमाम लेखक चुप हो गये थे। एक रहस्यगर्भी मौन उन्होंने साध लिया था। वस्तुतः यह उनकी चतुराई थी। जब लेखक ऐसी सुविधाजनक जोखिमरहित चतुराई को धारण करता है, तब वह अपने लेखक-धर्म को चूकता है। लेखक को तो हर हालत में सत्य का पहरेदार होना चाहिए, न्याय का झण्डा बरदार होना चाहिए। दो-एक साल पहले राजेन्द्र यादव ने "हंस" की अपनी विशेष संपादकीय "तेरी मेरी उसकी बात" में इस प्रश्न को उठाया था कि विश्व साहित्य में तथा आधुनिक काल की पुरानी पीढ़ी में कुछ ऐसे लेखक मिलते हैं जिनको अपने लेखन के कारण तत्कालीन समाज या व्यवस्था से काफी जूझना पड़ा हो, कारावास भुगतना पड़ा हो, अवहेलना या उपालंभ बरदाश्त करना पड़ा हो। परन्तु हिन्दी के इधर के साम्प्रतिक साहित्य में ऐसा कोई लेखक नहीं मिलता जो समाज या व्यवस्था से टकराने का साहस रखता है।[8]

यहाँ भवानीप्रसाद मिश्र की निम्नलिखित पंक्तियों की ओर ध्यान जाना स्वाभाविक ही कहा जायेगा —

" ठीक आदमकद कोई नहीं है,
न मैं, न तुम, न वे
न वे, न मैं, न तुम
सबके पीछे लगी हुई है
आसक्ति की दुम !!! "[9]

ऊपर के विवेचन से स्पष्ट होता है कि समसामयिक समस्याओं लिखने में दो प्रकार के खतरे हैं। एक तो लेखक को तत्कालीन व्यवस्था और उसके सूत्रधारों से जूझना पड़ता है। बंगला लेखिका तस्लीमा नसरीन तथा सलमान रश्दी के उदाहरण हमारे सामने हैं। हिन्दी के निकट

इतिहास पर यदि दृष्टि डाली जाय तो सफदर हाशमी की हत्या का उदाहरण हमारे सामने पड़ता है, जो अपने नुक्कड़ नाटकों को लेकर व्यवस्था के लिए सिरदर्द बने हुए थे। अभी हाल ही में सुप्रसिद्ध कार्टूनिस्ट इरफान हुसैन की निर्मम हत्या भी कुछ इस प्रकार के कारणों से हुई है। [10]

दूसरा खतरा लेखकों को यह रहता है कि यदि वे समसामयिक समस्याओं को लेकर लिखेंगे तो उन समस्याओं के न रहने पर उनका साहित्य अप्रासंगिक हो जायेगा।

यहाँ एक बात की ओर हमारा ध्यान सविशेष रहना ही चाहिए कि उक्त दूसरे प्रकार के खतरे को ध्यान में रखकर यदि लेखक अपने समय की समस्याओं से कतराता है, तो जैसा कि ऊपर कहा गया है, वह अपने लेखक-धर्म से च्युत होता है। बल्कि लेखक का तो यह धर्म बन जाता है कि वह अपने युग के प्राय-प्रश्नों को वाणी प्रदान करे और प्रत्येक युग के बड़े लेखक ने यह किया है।

फ्रेन्च लेखक बाल्ज़ाक के सन्दर्भ में कार्ल मार्क्स का यह कथन काफी प्रसिद्ध है कि वे कहा करते थे कि फ्रान्स को जितना वे बाल्ज़ाक के जरिये जान पाये, उतना वे वहाँ के समाजशास्त्रियों, इतिहासविदों, शिक्षाशास्त्रियों और विद्वानों के ग्रन्थों से भी नहीं जान पाये। ऐसा इसलिए हो पाया है कि बाल्ज़ाक की रचनाओं में तत्कालीन फ्रान्स का इतिहास बोल रहा है। यदि अप्रासंगिक हो जाने का भय बाल्ज़ाक के मन में होता तो ऐसा कतई न होता। बल्कि कई बार तो ऐसा होता है कि किसी युग-विशेष के सन्दर्भ में उस युग के बड़े साहित्यकार की रचनाओं में जो उपलब्ध होता है, वह इतिहास में भी उपलब्ध नहीं हो पाता। अभी हाल में ही हमारे विभाग में प्रेमचन्द साहित्य के अध्येता डा० कांतिमोहन आये थे। उन्होंने अपने व्याख्यान

में स्पष्ट किया था कि प्रेमचन्द के उपन्यासों में स्वाधीनता संग्राम की एक-एक घटना बोल रही है । प्रेमचन्द जैसे लेखकों की रचनाओं को सामने रखकर स्वाधीनता संग्राम का इतिहास फिर से लिखा जाना चाहिए । [11]

इसी प्रकार रवीन्द्रनाथ ठाकुर के "गोरा" उपन्यास में हमें तत्कालीन नवजागरण काल की प्रवृत्तियां तथा पुनरुत्थानवादी प्रवृत्तियों का संघर्ष दृष्टिगत होता है । कदाचित इसीलिए गुरुदेव ठाकुर कहा करते थे कि जिसने इतिहास और काव्य दोनों को पढ़ा है, वह उत्तम भाग्य-शाली व्यक्ति है, जिसने काव्य पढ़ा है पर इतिहास नहीं पढ़ा है वह थोड़ा कम भाग्यशाली है, परन्तु उस व्यक्ति का भाग्य तो मंदातिमंद समझा जाना चाहिए जिसने केवल इतिहास को ही पढ़ा है । [12]

अतः कुछ लोग प्रेमचन्द के उपन्यासों को लेकर प्रासंगिकता के सन्दर्भ में सवाल उठाते हैं कि प्रेमचन्दजी अब प्रासंगिक नहीं रहे । परन्तु यह सत्य नहीं है । प्रेमचन्दजी ने जैसा कि ऊपर कहा गया है, समसामयिक समस्याओं को भी इस प्रकार उठाया है, उनका निरूपण इस ढंग से किया है, कि उनके उपन्यासों का मूल हार्द बना रहता है । उनके उपन्यासों में मूल मानवीय संवेदनाओं और मूलभूत मानवीय ~~मूल~~ प्रवृत्तियों ((Human basic Instincts)) का चित्रण हुआ है, जिसके कारण प्रेमचन्दजी के सामने अप्रासंगिक हो जाने का खतरा नहीं है । प्रेमचन्दजी आज भी हमारे लिए उतने ही प्रासंगिक हैं जितने वे अपने समय में थे । मूलभूत मानवीय ~~विश्वमें~~ संवेदनाओं की पकड़ के कारण यह हुआ है । इस संदर्भ में अज्ञेयजी के निम्नलिखित कथन को ध्यान में रखना चाहिए :—

"साहित्यकार की संवेदना को, मानवीय चेतना को, उसने अधिक विकसित या प्रसारित नहीं किया है ... प्रेमचन्द को हम पीछे छोड़ आये, यह दावा सार्थक उसी दिन होगा जिस दिन उससे बड़ी मानवीय संवेदना हमारे बीच प्रकट हो । उसके बाद ही हम यह कह सकते हैं कि प्रेमचन्द का महत्व ऐतिहासिक महत्व है । तब तक

वह हमारे बीच में हैं, पुराने पड़कर भी समर्थ हैं, साहित्य-संस्कार में गुरु-स्थानीय हैं और उनसे हमें शिक्षा ग्रहण करनी चाहिए।"[13]

इसी सन्दर्भ में तुलसी के सन्दर्भ में कही हुई डा॰ चन्द्रकान्त देसाईजी की बात भी विचारणीय प्रतीत होती है — "केशव विद्वानों के कवि हैं, तुलसी लोगों के कवि हैं। केशव कवियों के कवि हो सकते हैं, परन्तु यह सत्य ध्यातव्य रहे कि कवियों के कवि बड़े कवि तो हो सकते हैं, जनकवि या महाकवि नहीं।"[14]

और प्रेमचन्द लोगों के लेखक हैं। लोकधर्मी साहित्यकार हैं। वे अपना वस्तु जीवन से उठाते हैं, पुस्तकों से नहीं। उन्हें लोक-हृदय की पहचान है। समय की नब्ज को भी वे पहचानते हैं। वे क्रान्तदर्शी हैं। अतः उनके अप्रासंगिक हो जाने का सवाल ही खड़ा नहीं होता। उदाहरण के तौर पर उनके "गबन" उपन्यास को लिया जा सकता है। "गबन" की नायिका जालपा को गहनों का शौक है। गहनों में भी विशेषतः चंद्रहार उसे अधिक प्रिय है। उस पर वह जान छिड़कती है। अब बहुत से लोग यह कहते हुए पाये जाते हैं कि आजकल की आधुनिक महिलाओं को गहनों का इतना शौक नहीं रहा है। अतः यह समस्या अब अप्रासंगिक हो गई है। प्रथमतः यह माना जाता है कि महिलाओं को गहनों का अब वैसा शौक नहीं रहा। नगरीय उच्चवर्गीय महिलाओं को यह बात अंशतः लागू की जा सकती है। परन्तु आज भी मध्यवर्ग, निम्न मध्यवर्ग और ग्रामीण क्षेत्रों की महिलाओं में गहनों का आकर्षण पाया जाता है। यह बात और है कि चन्द्रहार का स्थान किसी और अलंकार ने ग्रहण कर लिया हो। प्रेमचन्द के समय की महिलाएं यदि सोने के गहनों और "चन्द्रहारों" के लिए शौक करती थीं; तो आज की आधुनिकाएं वैभवपूर्ण प्रसाधनों के लिए ललचाती हैं। मूल बात तो वैभव या ऐश्वर्य के प्रदर्शन की

ही है जो पहले तब भी थी और आज भी है । और बात दरअसल गहने की भी नहीं है । बात है उस मूल नारी-सहज प्रवृत्ति की जिसे ब्रज की एक कहावत में यों कहा गया है — " मेरी पड़ौसन खाय दही , मोपै कैसे जाय सही । " यह नारी-मन की मूलभूत वृत्ति है , जो हमेशा रहेगी ।

और उच्चवर्ग की शिक्षित महिलाओं में भी वस्तुतः उसका स्वरूप बदला है । माना कि वे चन्द्रहार नहीं मांगती , हल्के-फुल्के गहने पहनती हैं ; परन्तु उनके वे हल्के-फुल्के गहने भी काफी मूल्य मूल्यवान हो जाते हैं , क्योंकि आग्रह अब सोने से आगे बढ़कर "डायमंड" तक जा पहुंचा है । कहने का अभिप्राय यह कि मूलभूत प्रवृत्तियों में कहीं कोई विशेष अंतर नहीं आया है ।

वैसे तो महाकवि सूरदास भी अब प्रासंगिक नहीं माने जायेंगे, क्योंकि आजकल के बच्चों को "चोटी" अच्छी नहीं लगती । परन्तु मूलभूत भावना तो समान ही रहती है । वहाँ यशोदा मैया कृष्ण को शीघ्र बड़ा होने के लिए "माखन" या "दधि" खाने के लिए कहती हैं ; तो हमारी आधुनिक माताएँ बच्चों को "बोर्नवीटा" या "कौम्प्लान " खिलाते-पिलाते समय उनको यह लालच देती हैं कि इससे वे ताकतवर या [illegible] हो जायेंगे । अतः केवल स्वरूप बदला है । मूलभूत संवेदना तो अपनी जगह की जगह बनी हुई है ।

अतः कहा जा सकता है कि कि प्रेमचन्दजी ने अपने उपन्यासों में जिन सवालों को उठाया है , वे सवाल आज के सन्दर्भ में भी उतने ही प्रासंगिक हैं । उनका स्वरूप जटिल अवश्य हो गया है । जैसे प्रश्नों में दहेज समस्या , अनमेल विवाह की समस्या , वृद्ध-विवाह की समस्या , वेश्या समस्या , हिन्दू-मुस्लिम वैमनस्य की समस्या

दलितों की समस्या आदि को रेखांकित किया जा सकता है । आज़ादी के इतने वर्षों में थोड़े-से परिवर्तन नगरों, महानगरों तथा उनके समीपवर्ती कस्बों में जरूर आये हैं; परन्तु सुदूर ग्रामीण अंचलों में परिवर्तन की लहर अत्यधिक मंद स्वरूप में दृष्टिगोचर हो रही है । बल्कि इन परिवर्तनों के कारण समस्याएं कहीं और अधिक जटिल और पेचीदा हो गई हैं ।

परवर्ती अध्यायों में उपर्युक्त मुद्दों की और अधिक गहरी पड़ताल का उपक्रम है । यहाँ प्रस्तुत अध्याय में तो इन मुद्दों के प्रवर्तन को स्पष्ट किया गया है । इस प्रकार प्रेमचन्दजी के उपन्यासों के पुनर्मूल्यांकन की उपादेयता को ही सिद्ध करने का उपक्रम यहाँ रखा गया है ।

{3} समकालीन उपन्यास साहित्य के संदर्भ में प्रेमचन्द के उपन्यासों का मूल्यांकन :

प्रेमचन्दोत्तर काल में निम्नलिखित औपन्यासिक प्रवृत्तियों के दर्शन होते हैं :—

{1} सामाजिक उपन्यास
{2} ऐतिहासिक उपन्यास
{3} मनोवैज्ञानिक उपन्यास
{4} समाजवादी उपन्यास
{5} आंचलिक उपन्यास
{6} राजनीतिक उपन्यास
{7} व्यंग्यात्मक उपन्यास
{8} पौराणिक उपन्यास

उक्त औपन्यासिक विधाओं में से ऐतिहासिक एवं पौराणिक उपन्यासों को छोड़कर शेष सभी प्रकार के उपन्यासों पर प्रेमचन्द के सन्दर्भ में विचार

किया जा सकता है । जब हम प्रेमचन्द की औपन्यासिक यात्रा को देखते हैं , तो इस बात की प्रतीति हुए बिना नहीं रहती कि प्रेमचन्द क्रमशः समाजवादी-यथार्थवादी प्रवृत्ति की ओर बढ़ रहे थे और उसीका विकास हमें इधर के समकालीन उपन्यासों में दिखाई पड़ता है । "पानी के प्राचीर " , " जल टूटता हुआ " {डा. रामदरश मिश्र} ; "अलग अलग वैतरणी " {डा. शिवप्रसाद सिंह} ; "आधा गांव " {डा. राही मासूम रजा} ; " धरती धन न अपना " {जगदीशचन्द्र} ; "नदी फिर बह चली " {हिमांशु श्रीवास्तव} ; "नाच्यौ बहुत गोपाल " {अमृतलाल नागर} प्रभृति ग्रामांचलीय उपन्यासों में हमें वही यथार्थ-वादी दृष्टि मिलती है । विज्ञान , प्रौद्योगिकी तथा इलेक्ट्रोनिक मीडिया के कारण गांवों में बाह्यतः कुछ परिवर्तन आये हैं , परंतु शोषण की प्रक्रिया बरकरार रही है । आज भी गांव में छोटे किसानों और गरीबों को दबाया जाता है । राजनीति और जटिल हो गई है । छोटे-छोटे गांवों और कस्बों तक में राजनीति की यह काली छाया फैल रही है । वह जीवन के तमाम अच्छे मूल्यों को लील रही है । प्रेमचन्दजी ने बहुत पहले , स्वाधीनता से भी पहले {क्योंकि प्रेमचन्दजी ने स्वाधीनता को तो देखा ही नहीं था} अपनी पैनी दृष्टि से यह भांप लिया था कि आजादी के बाद हमारे देश में सत्ता के सूत्र किन हाथों में जानेवाले हैं । "प्रेमाश्रम" , "रंगभूमि" तथा "गोदान" जैसे उपन्यासों में हम प्रेमचन्द की इस राजनीतिक सूझ-बूझ को देख सकते हैं । इसकी प्रतीति हमें सर्वप्रथम फणीश्वरनाथ रेणु कृत "मैला आंचल " उपन्यास में होती है । जहाँ पर सेवा की "भेख" लेने वाले बावनदास जैसे व्यक्ति तो पृष्ठभूमि में चले जाते हैं और उनका स्थान ले लेते हैं दारू का पीठा चलानेवाले ठेकेदार , जमींदार , व्यापारी और उद्योगपति जो अंग्रेजों के पिट्ठू थे और अब देशसेवक का मुखौटा धारण करके सामने आ रहे हैं । "रायसाहब" अब "वैद्यजी" {राग दरबारी} हो गए हैं । गांव में पहले वर्चस्व

रायसाहबों का था , अब वैद्यजी जैसे लोगों का हो गया है , इसका बड़ा ही व्यंग्यात्मक अंकन श्रीलाल शुक्ल के उपन्यास xx "राग दरबारी " में हुआ है । यथा-

" वैद्यजी थे , हैं और रहेंगे । अंग्रेजों के जमाने में वे अंग्रेजों के लिए श्रद्धा दिखाते थे । देसी हुकूमत के दिनों में वे देसी हाकिमों के लिए श्रद्धा दिखाने लगे । वे देश के पुराने सेवक थे । पिछले महायुद्ध के दिनों में जब देश को जापान से खतरा पैदा हो गया था ; उन्होंने सुदूर पूर्व में लड़ने के लिए बहुत से सिपाही भरती कराए । अब जरूरत पड़ने पर रातों-रात वे अपने राजनीतिक गुटों में सैकड़ों सदस्य भर्ती करा देते हैं । पहले भी वे जनता की सेवा जज की इजलास में जूरी और xxxxx असेसर बनकर , दीवानी के मुकदमों में xxxxx जायदादों के सुपुर्दकार होकर और गांव के जमींदारों में लम्बरदार के रूप में करते थे । अब वे को-ऑप-रेटिव यूनियनों के मैनेजिंग डायरेक्टर और कालेज के मैनेजर थे । वास्तव में वे इन पदों पर काम करना नहीं चाहते थे , क्योंकि उन्हें पदों का लालच न था । पर उस क्षेत्र में जिम्मेदारी के इन कामों को निभाने वाला कोई आदमी ही न था और वहाँ जितने नवयुवक थे , वे पूरे देश के नवयुवकों की तरह निकम्मे थे , इसलिए उन्हें बुढ़ापे में इन पदों को संभालना पड़ा था । " 15

प्रेमचन्दजी में बड़ी गहरी और पैनी व्यंग्य दृष्टि थी , जो उनके उपन्यासों में हमें बीज रूप में मिलती है । प्रेमचन्दोत्तरकाल में "राग दरबारी" , "नेताजी कहिन" (मनोहरश्याम जोशी) , "कथा सूर्य की नयी यात्रा " (हिमांशु श्रीवास्तव); "दिल एक सादा कागज" , "टोपी शुक्ला " (डा. राही मासूम रजा) ; "जंगलतंत्रम्" (श्रवणकुमार गोस्वामी) ; " एक चूहे की मौत " (बदी उज्जमा) प्रभृति उपन्यासों में हमें समकालीन सामाजिक , राजनीतिक स्थितियों की विसंगतियों पर अनेकानेक व्यंग्य-चित्र मिलते हैं , जो प्रेमचन्द की

प्रवृत्ति के ही द्योतक हैं ।

प्रेमचन्दोत्तरकाल के महत्वपूर्ण उपन्यासों में एक "मैला आंचल" भी है । फणीश्वरनाथ रेणु का यह उपन्यास दो खण्डों में विभाजित है । प्रथम खण्ड का समय आज़ादी के कुछ वर्ष पूर्व का है [illegible] और दूसरे खण्ड का प्रारंभ ही स्वतंत्रता-प्राप्ति के उत्सव से होता है । लेखक की सूक्ष्म अनाविल क्रान्तदृष्टि ने बहुत पहले ही यह देख लिया था कि अशिक्षा और दारिद्र्यता के महा-अंधकार में आज़ादी एक छलावा मात्र बनकर रह जायेगी । शोषक और शोषित का दमनचक्र निरंतर जारी ही रहेगा क्योंकि पहले के शोषक ही देशभक्त का मुखौटा धारण करके सामने आ जायेंगे । बावनदास इस उपन्यास का एक सिद्धान्तनिष्ठ पात्र है । परन्तु ऐसे लोग राजनीति में कैसे चल सकते हैं ? एक ज़माने में अंग्रेजों के पिट्ठू ऐसे तहसीलदार साहब रातोंरात बदलते माहौल को देखकर कांग्रेस पार्टी में पैसों के बल पर महत्वपूर्ण स्थान प्राप्त कर लेते हैं, क्योंकि वे "चवन्निया मेम्बर" जोड़े ही हैं । राजनीति में, विशेषतः कांग्रेस में, उस समय कैसे-कैसे भ्रष्ट लोग आ रहे थे उसका चित्र हमें बावनदास की मनोव्यथा में मिलता है । पहले भारतमाता विदेशियों द्वारा पदाक्रान्त हो रही थी, परन्तु अब उसके ही अपने बेटे उसे क्षत-विक्षत कर रहे हैं । अतः बावनदास कहता है —
" भारतमाता जार बेजार रो रही है । " 16

लक्ष्मीनारायण लाल के उपन्यास " प्रेम अपवित्र नदी" में एक विदेशी पात्र लिलियन उपन्यास के नायक विष्णुपद से पूछती है कि आज़ादी की लड़ाई किस तरह के लोगों ने लड़ी, तो अत्यन्त वेदना के साथ वह उत्तर देता है — " वे लोग थे — ज़मींदारों के लड़के, अंग्रेजी व्यवस्था और दुकानदारों के युवक, जिनके बाप कहीं अंग्रेजी शराब के व्यापारी थे, कहीं अंग्रेजी वस्त्रों के थोक विक्रेता थे,

जहाँ अंग्रेजी चाय-बागान के मैनेजर थे, जहाँ वे अंग्रेजी दफ्तरों-न्यायालयों के अफसर और वकील थे, जहाँ अंग्रेजी कालेजों के प्रोफेसर अध्यापक थे। इन्हीं पिताओं - बापों से विद्रोह करके उन युवकों ने आजादी की लड़ाई शुरू की। तभी यह दूसरा महायुद्ध आया, उसका काला बाजार खुला — इसी बाजार में आजादी की लड़ाई लड़ने वालों के पुत्रों ने धन कमाना शुरू किया। जैसे ही उन्हें स्वतंत्रता मिली, उन पुत्रों ने जेलों से छूटे हुए अपने पिताओं से कहना शुरू किया — पिताजी, बाबूजी, इलेक्शन लड़िये, ... मंत्री बनिये ... इलेक्शन लड़ने के लिए धन हमारे पास है।" 17

उक्त दोनों उदाहरणों से यह साबित होता है कि आजादी के बाद हमारे देश की बागडोर भ्रष्ट राजनेताओं के हाथ में चली गई। इस तथ्य का पीड़ात्मक व्यंग्य इन काव्य-पंक्तियों में व्यक्त हुआ है —

"लड़ते लड़ते मर गया, सैतालीस में देश।
गिद्ध लिये बचा रहे, बदल कबीरा भेष।।" 18

सच्चे त्यागी तपस्वी, जनता के सेवक, आजादी की लड़ाई में पुलिस की लाठियाँ खाने वाले, सच्चे देशभक्त सपूत लोग या तो मर-खप गये या पृष्ठभूमि में चले गये और उनका स्थान उपर्युक्त प्रकार के लोगों ने ग्रहण कर लिया। इस तथ्य का उल्लेख प्रेमचन्दोत्तर काल के अनेकानेक उपन्यासों में मिलता है; परन्तु उसके बीज हमें प्रेमचन्द के "प्रेमाश्रम", "कर्मभूमि", "रंगभूमि", "गोदान" जैसे उपन्यासों में मिलते हैं।

अंग्रेजों की कूटनीति थी — Divide and rule — फूट डालो और राज्य करो। अंग्रेजों की दृष्टि ने यह भाँप लिया था कि यदि वे हिन्दुस्तान पर राज्य करना चाहते हैं तो यहाँ की मुख्य दो कौमों के बीच दुश्मनावट के बीज डालने होंगे। वे कौमें हैं — हिन्दू और मुसलमान। अतः उन्होंने ऐसी कूटनीति अपनाई कि इन दब दो

कौमों के बीच शत्रुता की दरार पड़ जाय और दिन-ब-दिन यह दरार बढ़ती जाय । इसके लिए पहले उन्होंने सर सैयद अहमद और बाद में मुहम्मद अली जिन्ना जैसे मुस्लिम नेताओं को भड़काने का काम किया था । सन् 1905 का बंगभंग भी इसी प्रक्रिया की कड़ी है । फलतः प्रेमचन्दजी के उपन्यासों में अनेक स्थानों पर हिन्दू-मुस्लिम समस्या का आकलन मिलता है । प्रेमचन्दजी के हिन्दी में प्रथम प्रकाशित उपन्यास "सेवासदन" में ही हमें इसके संकेत मिलते हैं ।

उपन्यास का एक मुस्लिम पात्र दूसरे से कहता है — " बिरादराने वतन की यह नयी चाल आप लोगों ने देखी ? वल्लाह उनको खूब सूझती है । बगली घूंसे मारना कोई इनसे सीखे । " [19] इसी उपन्यास में अबुलवफा नामक एक मुस्लिम पात्र हिन्दुओं की नीयत के प्रति कितना शंकाशील है उसे संकेतित किया है — " आगिहाजा ! मुझे रात को आफताब का यकीन हो सकता है, पर हिन्दुओं की नेकनीयत पर यकीन नहीं हो सकता ।" [20]

"कायाकल्प" उपन्यास में भी उन्होंने इस तथ्य को रेखांकित किया है कि राष्ट्रीय समस्याओं और हितों को ~~xxxxxxxxxx~~ नज़रअन्दाज़ रखते हुए किस प्रकार इन कौमों के लोग एक-दूसरे के खून के प्यासे हो जाते हैं ।

प्रेमचन्द के बाद और स्वाधीनता के उपरांत भी हिन्दू-मुस्लिम वैमनस्य की यह समस्या बराबर-बराबर बनी हुई है । भारत-पाकिस्तान विभाजन तथा उसके बाद भी हमारे यहाँ हिन्दू-मुस्लिम दंगे होते रहे हैं । कई बार तो ऐसा लगता है कि अंग्रेज जिस वैर-वृक्ष का वपन करके गये थे, वह एक बड़ा वृक्ष हो गया है । सुना है अफ्रिका के जंगलों में कुछ ऐसे मानवभक्षी वृक्ष होते हैं जिनकी शाखाएँ मौका मिलते ही मनुष्यों और जानवरों को लिपट जाती है और उनके रक्त-मांस को

घुल लेती है । हिन्दू-मुस्लिम वैमनस्य का यह मुद्दा भी हजारों-लाखों मनुष्यों का भोग ले चुका है । "झूठा सच" (यशपाल), "प्रश्न और मरीचिका" (भगवतीचरण वर्मा), "आधा गाँव" (डा. राही मासूम रजा), "काला जल" (गुलशेर खान शानी), "एक पंखुड़ी की तेज धार" (शमशेर सिंह नरूला), "सफेद मेमने" (मणि मधुकर), "तमस" (भीष्म साहनी), "पतझर की आवाजें" (निरुपमा सेवती) प्रभृति उपन्यासों में हमें इस समस्या की विभीषिकाएं दृष्टिगत होती हैं ।

सन् 1992 में 6 दिसम्बर को अयोध्या में बाबरी मस्जिद को ढहाया गया था । उसके बाद देशभर में कौमी दंगों की आग भड़क उठी थी । तस्लीमा नसरीन के उपन्यास "लज्जा" में इस घटना के पश्चात् बांग्ला देश के हिन्दुओं पर जो कहर बरपा हुआ उसका बड़ा ही लोमहर्षक चित्रण मिलता है ।

प्रेमचन्द ने अपने अनेक उपन्यासों में नारी की विवश स्थिति का यथार्थ चित्रण किया है । "सेवासदन", "वरदान", "निर्मला" आदि उपन्यासों में हमें दहेज समस्या, अनमेल विवाह समस्या, वेश्या समस्या जैसी नारी-जीवन से सम्बद्ध समस्याओं का अंकन मिलता है । प्रेमचन्द के बाद इतने वर्षों के पश्चात् भी नारी-जीवन की कतिपय समस्याएं अनुत्तरित ही रही हैं । इधर शिक्षा के प्रचार-प्रसार के कारण कुछ नारी-चेतना विकसित हुई है, परन्तु ग्रामीण क्षेत्रों में तथा दलित पिछड़े समाजों में उसका वैसा प्रभाव नहीं दिखता है । बल्कि कुछ क्षेत्रों में तो पीछे कदम हो रहे हैं । आज़ादी के इतने वर्षों बाद भी राजस्थान जैसे राज्य में सतीप्रथा को गरिमामय (Glorifid) बनाने की दुर्घटनाएं हुई हैं । वहाँ राजकुँवरबा का किस्सा प्रसिद्ध है । संयुक्ता पाणिग्रही जैसी गण्यमान्य और आंतरराष्ट्रीय ख्याति की महिला देवदासी की प्रथा की हिमायत करे यह क्या कम आश्चर्य

की बात है ? पुरी के शंकराचार्यजी ने श्रीमती अरुंधती राय को वेद की ऋचाओं के पाठ के लिए चुनौती का फरमान किया था । अतः समकालीन औपन्यासिक लेखन में भी कई ऐसी रचनाएं आयी हैं, जिन्होंने नारी की व्यथा-कथा को, उसके आंसुओं को, नाना प्रकार के शोषणों को यथार्थवादी ढंग से उकेरा गया है । उन उपन्यासों में "काला जल", "साँप और सीढ़ी" (गुलशेर खान शानी), "नदी फिर बह चली" (हिमांशु श्रीवास्तव), "छाया मत छूना मन" (हिमांशु जोशी), "डाकबंगला" (कमलेश्वर), "अनारो" (मंजुल भगत), "पत्थरों की आवाजें" (निरुपमा सेवती), "सीढ़ियाँ" (शशिप्रभा शास्त्री), "टेराकोटा" (लक्ष्मीनारायण वर्मा), "मुरदाघर" (जगदंबाप्रसाद दीक्षित), "इदन्नमम" (मैत्रेयी पुष्पा), "छिन्नमस्ता" (प्रभा खेतान) आदि की परिगणना कर सकते हैं ।

अभिप्राय यह कि प्रेमचन्द के समय के परिवेश में और इधर के परिवेश में कुछ बदलाव जरूर आया है, परन्तु जहाँ तक मानवीय संवेदनाओं का सवाल है, मानवीय समस्याओं का सवाल है, उनमें कोई खास परिवर्तन नहीं हुआ है । निम्नलिखित दोहा इस संदर्भ में विचारणीय रहेगा —

"जो पहले होता रहा, अब भी वो ही हाल ।
आखिर चिड़िया क्या करे, डाल डाल है जाल ।।" 21

अतः समकालीन औपन्यासिक परिदृश्य में प्रेमचन्दजी अभी भी अप्रासंगिक नहीं हुए हैं ।

(ग) प्रेमचन्द के शैशवकालीन अनुभवों के सन्दर्भ में उनके उपन्यासों का अध्ययन :

"यह एक मनोवैज्ञानिक तथ्य है कि शैशवकालीन अनुभव मनुष्य के जीवन को एक निश्चित दिशा प्रदान करते हैं; और यदि व्यक्ति कलाकार या साहित्यकार हो तो, यह बात उस पर और भी ज्यादा

सिद्धांत से लागू होती है । निराला को काला रंग पसंद था और पंत को सफेद । इनके कारणों की तलाश में हमें उनके शैशवकालीन जीवन की तलैया में गोते लगाने होंगे । मैं एक व्यक्ति को जानता हूँ जिन्हें "कॉकरोच फोबिया" है । वह व्यक्ति छिपकली, बिच्छू या साँप से उतना नहीं डरता है, जितना कॉकरोच से डरता है । कॉकरोच के लिए यह जो डर या आतंक है, उसका उस व्यक्ति के शैशव से कोई गहरा संबंध होना चाहिए । हो सकता है कि जब वह बहुत छोटा हो, चलना-फिरना या बोलना भी न सीखा हो, उस समय कुछ कॉकरोच उसकी पथारी में घुस आये हों, जिसका डर वह जिन्दगीभर लिए लिए घूम रहा है । शैशव की मिट्टी बड़ी उर्वरा होती है । उस मिट्टी में जो बीज पड़ जाते हैं, वे बाद में महावृक्ष का रूप धारण करते हैं ।

मनुष्य की बहुत-सी गतिविधियों को हम नहीं समझ पाते, क्योंकि उसके कारण उसके शैशवकालीन लिबिडो में ढूँढने होंगे । मनोविज्ञानियों का कहना है कि विस्मरण जैसी कोई चीज नहीं होती । जन्म से लेकर वर्तमान समय तक की तमाम-तमाम बातें अचेतन मन में संगृहीत रहती हैं । अचेतन में संगृहीत रहने वाली इन बातों के समुच्चय को "लिबिडो" कहते हैं । अतः व्यक्ति का आचरण (Behaviour) इस "लिबिडो" द्वारा परिचालित होता है । उसके बारे में वह स्वयं भी नहीं जानता ।

शैशवकालीन प्रभाव किसी लेखक को किस सीमा तक प्रभावित करते हैं, उसकी एक अच्छी मिसाल हमें अमरिकी नोबल प्राईज़ विजेता लेखक अर्नेस्ट हेमिंग्वे के जीवन से उपलब्ध होती है । हेमिंग्वे के पिता "हेनपैक्ड हसबण्ड" टाईप के थे और उन पर हेमिंग्वे की माता का क्रूर शासन चलता था । अतः हेमिंग्वे के कथा-साहित्य में जो नारी-चरित्र मिलते हैं, वे प्रायः अत्यधिक क्रूर और माया, ममता, करुणा

ऐसे स्त्री-सहज भावों से विमुक्त से मिलते हैं । इस सन्दर्भ में डा. आर.टी जैन के निम्नलिखित विचार ध्यातव्य रहेंगे — " He was much more influeneed by the confliet between his music loving mother and his father, who loved and life and reavered courage. This conflict and his mother's dominating nature over her. husband reducing to a hem pecked husband. on Haming way this situation had Pro Found inffuesnce It bread him an intence disturbe of the dominating type of human and might have been responsable for his brocken marriage with Poline his second wife In terms of littrarg expressions it luid haming way either to portary women through the medium of wish full vigours in Fact in his Novels. Hamingway has not been able to endow and American women with even a single loveble quality. "

22

इस प्रकार हम देख सकते हैं कि किसी भी लेखक या कवि के जीवन में बाल्यकालीन प्रभावों का महत्व अनिवार्य है । उस समय

उसके दिलो-दिमाग पर जो प्रभाव पड़ते हैं, वे हमेशा-हमेशा के लिए अंकित हो जाते हैं। प्रेमचन्दजी का शैशवकालीन जीवन अनेक प्रकार की यंत्रणाओं और भावद स्थितियों से भरा हुआ है। आठ वर्ष की अवस्था में ही उनकी माता की मृत्यु हो गई और उसके बाद विमाता के जाल से उन्हें गुजरना पड़ा। कुछ वर्ष पश्चात् उनके पिता की भी मृत्यु हो गई और असमय ही उनके ऊपर पूरे परिवार का बोझ आ पड़ा। यही कारण है कि प्रेमचन्द के उपन्यासों और कहानियों में अनेक स्थानों पर इन छोटे बच्चों की अत्यंत कारुणिक स्थितियों का चित्रण मिलता है। माँ के लिए बच्चे में जो एक प्राकृतिक ललक होती है, उसका आकलन प्रेमचन्द में अनेक स्थानों पर मिलता है। उनके उपन्यास "कर्मभूमि" का नायक अमरकान्त एक स्थान पर कहता है — " जिन्दगी की वह उम्र जब इन्सान को मोहब्बत की सबसे ज्यादा जरूरत होती है, बचपन है, उस वक्त पौधे को तरी मिल जाय तो जिन्दगीभर के लिए उसकी जड़ें मजबूत हो जाती हैं। उस वक्त खुराक न पाकर उसकी जिन्दगी खुश्क हो जाती है। मेरी माँ का उसी जमाने में देहांत हुआ और तबसे मेरी रूह को खुराक नहीं मिली। वही भूख मेरी जिन्दगी है। " 23

यहाँ पर उक्त बात मानो अमरकान्त नहीं कह रहा है, प्रत्युत प्रेमचन्द की वह प्यासी आत्मा ही बोल रही है, क्योंकि उनकी माँ आनंदीबहन का देहांत भी उनके शैशवकाल में ही हो गया था, जिसे ऊपर निर्दिष्ट किया गया है। प्रेमचन्द ने अपने शैशव में विमाता के त्रास और बेरुखी का अनुभव किया था, फलतः प्यार की भूख के लिए उनकी आत्मा हमेशा तरसती, तड़पती और कांपती रही। प्रेमचन्दजी की एक कहानी है — अलग्योझा। इस कहानी का आरंभ ही इन शब्दों से होता है — " भोला महतो ने पहली स्त्री के मर जाने के बाद दूसरी सगाई की तो उसके लड़के रघु के लिए बुरे दिन

आ गये । रघु की उम्र उस समय केवल दस वर्ष की थी, वैन से गांव में गुल्ली-डण्डा खेलता फिरता था । मां के आते ही चक्की में जुतना पड़ा ।" 24

यहां भी प्रेमचन्दजी की ही झलक रघु के रूप में उभर आयी है । ऊपर अमरिकी लेखक हेमिंग्वे की जो बात कही गई है, ठीक उसी तरह प्रेमचन्द के साहित्य में भी अनेक स्थानों पर विमाताओं का कर्कश स्वरूप मिलता है, उसके पीछे प्रेमचन्द के शैशवकालीन व्यक्तिगत कटु अनुभव ही कारणभूत हैं ।

"रंगभूमि" के ताहिरअली तथा "निर्मला" के मंसाराम-सियाराम आदि के जो उदाहरण हैं, उनसे हमें यही बात देखने को मिलती है । प्रेमचन्दजी को जो इन बुरे अनुभवों से गुजरना पड़ा उसके कारण उन्होंने अपने कथा-साहित्य में कहीं-कहीं कुछ आदर्श पात्रों को भी गढ़ा है, क्योंकि जीवन की क्षति की पूर्ति करने का यह एक कलात्मक तरीका होता है । "स्मृति का पुजारी" नामक कहानी में उन्होंने होरीलाल नामक एक आदर्श पिता और पति का चरित्र गठित किया है । प्रस्तुत कहानी में होरीलाल का चरित्र प्रेमचन्द के पिता अजायबराय के ठीक विपरीत मिलता है । यथा—

"महाशय होरीलाल की पत्नी का जबसे देहान्त हुआ वह एक तरह से दुनिया से विरक्त हो गये । ... जब उनकी स्त्री जीवित थी, तब कुछ और ही बात थी । किसी-न-किसी बहाने से आयेदिन मित्रों की दावत होती रहती, कभी गार्डन पार्टी है, कभी संगीत है, कभी जन्माष्टमी है, कभी होली है । कोई संतान न थी; लेकिन किसीने उन्हें दुःखी या निराश नहीं देखा । मुहल्ले के सारे बच्चे उनके बच्चे थे । और तब महाशयजी का पैंतालीसवां

लाल था , सुगठित शरीर था , स्वास्थ्य अच्छा , रूपवान , विनोदशील , संपन्न । चाहते तो तुरन्त दूसरा ब्याह कर लेते । उनके हाँ करने की देर थी । गरज कि बावले कन्यावालों ने संदेश भेजे , मित्रों ने भी उजड़ा घर बसाना चाहा ; पर इस स्मृति के पुजारी ने प्रेम के नाम को दाग न लगाया । [25]

यहाँ पर होरीलाल के जितने भी गुण बताये हैं , वे प्रेम-चन्द के पिता अजायबराय के बिलकुल विपरीत हैं । दूसरे ब्याह के समय अजायबलाल की उम्र होरीलाल से ज्यादा थी । अजायबलाल के संतानें भी थीं , आमदनी भी अधिक नहीं थी , स्वास्थ्य भी अच्छा नहीं था । दूसरा विवाह न करते तो कुछ बिगड़ने वाला नहीं था । "स्मृति के पुजारी" कहानी के नायक होरीलाल ने पत्नी की मृत्यु के उपरांत दूसरा ब्याह नहीं किया , फलतः वे प्रेमचन्द की श्रद्धा और सम्मान के पात्र ठहरते हैं । वस्तुतः प्रेम-चन्दजी को अपने पिता पर इस बात को लेकर गुस्सा आता है , जिसका जिक्र अमृतराय ने उनकी जीवनी "कलम का सिपाही" में इस प्रकार किया है —

आखिर क्या पड़ी थी मुंशी अजायबलाल को जो बेटे-बेटे के रहते हुए बुढ़ौती में जाकर दुबारा ब्याह किया ? सेहत भी आपकी माशाअल्ला ठीक न थी । रोज गिलसिया दारू न चढ़ाते तो चलना-फिरना दूभर हो जाता , लेकिन शादी करने से बाज न आए । अजी छोड़ो भी , ऐसी भी क्या हवस कि उस पर इन्सान काबू न रख सके ; उम्र भी तो आपकी मुलाहिजा फरमाइये , पचास साल का आपका सीन है , और आप चले हैं फिर ब्याह रचाने ! [26]

अभिप्राय यह कि शैशवकालीन आनंद स्थिxxशिशुxxx स्थितियों का , अभावों का , पीड़ा और यंत्रणा का जो चित्रण

प्रेमचन्द में मिलता है, उसमें कारणभूत हैं उनके शैशवकालीन वैयक्तिक अनुभव। निष्कर्षतः कहा जा सकता है कि शैशवकालीन प्रभावों का लेखक के जीवन पर काफी गहरा प्रभाव पड़ता है, और किसी लेखक के साहित्य के परीक्षण का एक निकष यह भी हो सकता है।

(घ) दलित-विमर्श के सन्दर्भ में प्रेमचन्द के उपन्यासों का मूल्यांकन :

यह एक सर्वविदित तथ्य है कि आधुनिक साहित्य के दो महत्वपूर्ण मुद्दे हैं, दो महत्वपूर्ण विमर्श हैं — नारी-विमर्श और दलित-विमर्श। इन दोनों विमर्शों को लेकर नवजागरण काल में काफी उहापोह मिलता है और रूढ़िगत परंपरागत मूल्यों की उपेक्षा कर या उन्हें नकारकर एक नये सिरे से चिंतन-मनन-कवायद शुरू होती है। इस दौर के नव-चिंतनवादी या सुधारवादी लेखकों ने इस संदर्भ में प्रगतिवादी जीवनमूल्यों को अंगीकृत करते हुए इन दोनों तबकों का जो शोषण हो रहा था उसका घोर विरोध किया है, जिसकी सविस्तर चर्चा "[illegible] विषय-प्रवेश" वाले अध्याय में की जा चुकी है। यहाँ केवल इतना निर्दिष्ट करना है कि पूर्वप्रेमचन्दकाल में नारी-विमर्श को लेकर चिंतन-मनन-लेखन औपन्यासिक धरातल पर प्रारंभित हो चुका था। दलित-विमर्श की बात हमें सर्वप्रथम प्रेमचन्द ही के उपन्यासों में उपलब्ध होती है। इसे प्रेमचन्द की प्रागल्भता ही कहा जायेगा।

दलित-विमर्श की पृष्ठभूमि के रूप में नवजागरण के धार्मिक-सामाजिक आंदोलनों को चिन्हित किया जा सकता है। परंतु उसे गति मिली महात्मा गांधी के राजनीति-प्रवेश के बाद। अंग्रेजों की कूटनीति के कारण जब दलितों के लिए पृथक निर्वाचन क्षेत्र की बात उठती है, तब महात्मा गांधी कहते हैं —

"मैं जन्म से अछूत न होते हुए भी कर्म से अछूत हूँ। मेरा दावा है कि मैं अछूत समझे जानेवाले लोगों का प्रतिनिधित्व कर सकता हूँ। .... मैं चाहता हूँ कि हिन्दू धर्म से अस्पृश्यता का कलंक साफ धुल जाय। इसीके लिए मैं जी रहा हूँ और आवश्यकता पड़े तो मरने के लिए भी तैयार हूँ। मैं स्पृश्य और अस्पृश्य लोगों को भाई-भाई की तरह गले मिलते देखना चाहता हूँ। ... हिंदू धर्म ने अपने अछूत भाइयों के बारे में इतने पाप किये हैं कि उन पापों के परिमार्जन के लिए यदि दस-बीस आदमी भी प्राण दे दें तो भी दुःख की बात नहीं है।" [27]

वस्तुतः वैदिक काल में जातिगत जकड़बन्दी अधिक नहीं थी। यह जकड़बन्दी उत्तर-वैदिक काल, शास्त्र, पुराण और स्मृतिकाल में क्रमशः बढ़ते हुए अपनी चरम सीमा पर पहुँच गयी। उन पर धार्मिक, सामाजिक, राजनीतिक आदि कई प्रकार की निर्योग्यताएं (Disabilities) थोप दी गयीं। उन पर शारीरिक और मानसिक अत्याचार होते थे। दक्षिण में यह समस्या अपने उग्रतम रूप में थी। डा. हरदत्त वेदालंकार ने इसकी ओर संकेत करते हुए लिखा है —

"कोचिन की सरकारी सेन्सस रिपोर्ट के अनुसार ब्राह्मण नायर के स्पर्श से दूषित समझे जाते थे। किन्तु कम्मालन (राज, बढ़ई, सुनार, चमार) ब्राह्मणों को चौबीस फीट की दूरी से अपवित्र कर देता था, ताड़ी निकालने वाला 38 फीट से, खेतिहर पुलाय 48 फीट से और परैयन (गोमांस भक्षक परीया) 64 फीट से। यह संतोष की बात थी कि इससे पुरानी रिपोर्टों में परीया 72 फीट की दूरी से अपवित्र करने वाला माना गया है। ये अभागे अछूत शहरों से बाहर रहते थे, मंदिरों में उनका प्रवेश वर्जित था, क्योंकि सब भक्तों का उद्धार करने

वाले देवता भी इनके ~~xxxx~~ दर्शन से दूषित हो जाते है । ये कुओं से पानी नहीं भर सकते थे , संस्था और पाठशाला का लाभ नहीं उठा सकते थे । ये उच्चवर्ग के बेगार आदि के अत्याचार सहते हुए बड़े दुःख से अपने ~~xxxxxxxxx~~ नारकीय जीवन की घड़ियाँ गिनते थे । " 28

अछूतों के प्रति यह जो ~~xxx~~ अमानुषी व्यवहार हो रहा था उससे चिढ़कर स्वामी विवेकानन्द को कहना पड़ा था कि " हमारा धर्म रसोईघर में है , हमारा ईश्वर खाना बनाने के बरतन में है , हमारा सिद्धान्त है मुझे न छुओ , मैं पवित्र हूँ ×। " 29

डा. रामधारीसिंह दिनकर ने अपने "संस्कृति के चार अध्याय " नामक ग्रन्थ में इस सन्दर्भ में टिप्पणी दी है : "फलतः स्वामी विवेकानंद ने तो ब्राह्मण को भारतीय संस्कृति का सर्प कहा है । वे कहते हैं कि जिस प्रकार किसी भयंकर विषधर सर्प के काटने पर यदि वह सर्प स्वयं उस जहर को चूस लेता है तो व्यक्ति उस सर्प दंश से बच सकता है , ठीक उसी प्रकार भारतीय समाज में व्याप्त इस जहर को भी ब्राह्मण रूपी सर्प को ही चूसना होगा । " 30

कहना न होगा कि नवजागरण के नेता , ज्योतिबा फुले , राजा हाले , महात्मा गांधी , डा. भीमराव बाबासाहब आंबेडकर ~~xx~~ , स्वामी विवेकानन्द प्रभृति महानुभावों के प्रयत्नों से दलित वर्ग पर थोपी गयीं निर्योग्यताओं को न केवल अनुचित , अन्यायपूर्ण करार दिया गया ; अपितु उसे मानव-धर्म विरोधी और हिन्दू धर्म का कलंक भी घोषित किया गया ।

पहले कहा गया है कि प्रेमचन्दजी पर नवजागरण के नेताओं का प्रभाव तो है ही , महात्मा गांधी और कार्ल मार्क्स का भी

प्रभाव है । दूसरे प्रेमचन्दजी एक युगनिर्माता और क्रान्तद्रष्टा लेखक हैं । ऐसे लेखक की यह एक विशेषता होती है कि वह अपने युग के विचार-प्रवाहों को सहसा ग्रहण कर लेता है ।

अतः प्रेमचन्द के कथा-साहित्य में हमें अनेक स्थानों पर दलित-समस्या का चित्रण मिलता है । "ठाकुर का कुआँ" , "सद्-गति" , "सौभाग्य के कोड़े" , "मंदिर" , "मंत्र" , "दूध का दाम", "घासवाली" , " बाबाजी का भोग" , "सवासेर गेहूँ " , "लांछन", "गुल्ली डंडा" , "कफन" आदि अनेक कहानियों में हमें दलित-विमर्श से सम्बद्ध अनेक आयाम उपलब्ध होते हैं । किन्तु प्रस्तुत अध्ययन में हमारा प्रतिपाद्य केवल उनका उपन्यास-साहित्य ही है । अतः इसमें हम "xxxxxx " देवस्थान रहस्य" , "प्रेमा" , xxxxxxxxxx " सेवासदन" , "प्रेमाश्रम" , "वरदान" , "रंगभूमि", "कायाकल्प" , "गबन" , "कर्मभूमि" , "गोदान" आदि प्रेमचन्द के उपन्यासों में इसे रेखांकित करने का यत्न करेंगे ।

प्रेमचन्द के प्रभाव के कारण प्रेमचन्दयुग में हमें "बुधुआ की बेटी" ﴾ उग्र ﴿ , "अलका," , "निरुपमा" , "कुल्ली भाट" ﴾निराला﴿ , "अंतिम आकांक्षा" ﴾ सियारामशरण गुप्त﴿ जैसे उपन्यासों में दलित-जीवन की समस्याओं का यथार्थ आकलन मिलता है । यह दलित-विमर्श की धारा जो xxxxx प्रेमचन्द से प्रारंभित हुई वह प्रेमचन्दोत्तर युग , xxxxxxxxxxxxx स्वातंत्र्योत्तर युग होते हुए समकालीनयुग तक चली आई है ।

"पिछले सौ-डेढ़ सौ वर्षों" के सुधार-आंदोलनों तथा सरकारी-गैरसरकारी संस्थाओं और महानुभावों के कारण दलितों की स्थिति में थोड़ा सुधार आया है , और यह सुधार भी आधुनिक उपकरणों तथा परिस्थितियों के कारण है । मूलभूत समस्या तो आज भी

वैसी ही बरकरार है । बुन्देलखण्ड के गांवों में स्थितियों में अधिक अंतर नहीं आया है । सैकड़ों ऐसे गांव है जहां आज भी अस्पृश्यता है । अतः दलित-विमर्श के सन्दर्भ में प्रेमचन्द के उपन्यासों की प्रासंगिकता आज भी बरकरार है ।

इधर पिछले दस-पंद्रह वर्षों से जो भूमंडलीकरण , उदारीकरण , निजीकरण की जो प्रवृत्तियां बढ़ रही हैं ; वे दलितों और पिछड़ों के हक में नहीं है । दलित जो इधर कुछ ठीक हो रहे थे , निजीकरण के कारण पुनः उपेक्षा की चपेट में आ जायेंगे । राजनीति और सरकारी नौकरियों में आरक्षण के कारण उनकी स्थिति में कुछ बदलाव आ रहा था । निजीकरण के कारण नौकरियों का छेद उड़ता जायेगा । भूमंडलीकरण के कारण राजनीति प्रभावहीन , लक्ष्यहीन और अर्थहीन होती जायेगी । पहले धर्म और शास्त्रों के द्वारा इन लोगों का दमन और छला गया अब इन नये शस्त्रों से उन्हें पुनः उपेक्षा के दलदल में ढकेल दिया जायेगा । विशिष्ट प्रकार की शिक्षा और चिकित्सा एक वर्ग-विशेष की संपदा हो जायेगी । इस संदर्भ में अरुंधती राय के विचार उल्लेखनीय रहेंगे —

"भारत के अभिजात्य वर्ग , सत्ता एवं उसके अंगों , उपांगों तथा मीडिया द्वारा निजीकरण के गाए जा रहे समवेत स्वागत-गान पर राय की अंतिम आपत्ति यह है कि निजीकरण बाजार की राजनीति को जिस तरह स्वच्छंद करता है कि उसका परिणाम यह होगा कि भारत की गरीब जनता के हाथ फिलहाल जो एक अंतिम हथियार , यानी उसका वोट है , उसकी भी धार कुंद हो जाएगी । चुनाव तो फिलहाल भी पहले जैसे हो रहे हैं , तब वे और भी अबूझ हो जाएंगे । और लोकतंत्र एक नये ड्रामे का भाग भर बनकर रह जाएगा । बातचीत की

की मेज गरीबों की पहुंच से बाहर हो जाएगी । वे पूरी तरह प्रभाव-हीन हो जाएंगे । " 3।

यहाँ जो बात अरुंधती राय ने गरीबों के सन्दर्भ में की है, वह पूर्णतया दलितों पर भी लागू हो सकती है ।

यहाँ पुनर्मूल्यांकन की उपादेयता के सन्दर्भ में जिन मुद्दों की पड़ताल की गई है, इनके अतिरिक्त प्रेमचन्द के जीवन-संघर्ष के परिप्रेक्ष्य में उनके कथा-साहित्य का अनुशीलन हो सकता है । किन्तु उस पर डा० लीना चौहान का स्वतंत्र कार्य हो चुका है । अतः उसे यहाँ नहीं छुआ गया है । प्रेमचन्द के उपन्यासों की शिल्प-संरचना को लेकर भी एक अलग से स्वतंत्र कार्य की गुंजाइश है । अतः उस पर भी यहाँ विचार नहीं किया गया है ।

निष्कर्ष :

अध्याय के सम्यगावलोकन से हम निम्नलिखित निष्कर्षों तक सहजतया पहुंच सकते हैं :—

(1) साहित्य संभावनाओं का क्षेत्र है, अतः यहाँ साहित्यकार और उसके कृतित्व के मूल्यांकन और पुनर्मूल्यांकन की प्रक्रिया निरंतर प्रवहमान रहती है ।

(2) साहित्य के विवेचन में कई बार दृष्टिकोण विषयगत ( ) न रहकर विषयीगत ( ) हो जाता है । फलतः एक ही कृति या साहित्यकार के मूल्यांकन में भिन्न-स्तरीयता उपलब्ध होती है ।

(3) प्रेमचन्द के उपन्यासों का पुनर्मूल्यांकन उनके उपन्यासों की प्रासंगिकता के सन्दर्भ में भी हो सकता है । प्रेमचन्द के समय के

बाद ग्रामीण एवं नगरीय परिवेश की अनेकानेक समस्याओं में कुछ परिवर्तन लक्षित किया जा सकता है ; तथापि बहुत-सी मूलभूत प्रवृत्तियों में कोई विशेष अंतर नहीं आया है । अतः आज के संदर्भ में भी प्रेमचन्द के उपन्यास उतने ही प्रासंगिक हैं , जितने वे तभी थे ।

[4] यद्यपि प्रेमचन्द के समयगत परिवेश और इधर के समयगत परिवेश में कुछ बदलाव आया है , तथापि जहाँ तक मानवीय संवेदनाओं का सवाल है , प्रेमचन्द आधुनिक लेखकों को अपनी विरासत दे सकने की स्थिति में हैं ।

[5] प्रेमचन्द-साहित्य में जो प्रवृत्तियाँ परिलक्षित होती रही हैं , समकालीन औपन्यासिक साहित्य में भी उनको चिन्हित किया जा सकता है ।

[6] देशकालीन स्थितियाँ किसी भी रचनाकार के कृतित्व पिण्ड को रचने में महत्वपूर्ण भूमिका अदा करती हैं । प्रेमचन्द के उपन्यासों का पुनर्मूल्यांकन इस संदर्भ को केन्द्रस्थ रखते हुए भी किया जा सकता है ।

[7] दलित-विमर्श को लेकर भी प्रेमचन्द साहित्य पर पुनर्विचार की प्रक्रिया की शुरुआत है ।

:: सन्दर्भानुक्रम ::

§1§ द्रष्टव्य : चिंतनिका : डा. पारूकांत देसाई : पृ. 41 ।

§2§ सुबे सेमल के फुन्नों पर : डा. पारूकांत देसाई : पृ. 103 ।

§3§ चिन्तामणि भाग-1 : " कविता क्या है ? " नामक निबंध : आचार्य रामचन्द्र शुक्ल : पृ. 134-135 ।

§4§ वही : पृ. 138 ।

§5§ द्रष्टव्य : समीक्षायण : डा. पारूकान्त देसाई : पृ. 115 ।

§6§ द्रष्टव्य : लेख : " भारतेन्दु और भारत की उन्नति " : डा. नामवरसिंह : आलोचना-4 : जनवरी-मार्च : 2001 : पृ. 7-11 ।

§7§ द्रष्टव्य : साठोत्तरी हिन्दी उपन्यास : डा. पारूकान्त देसाई : पृ. 5 ।

§8§ द्रष्टव्य : हंस : : भूमिका से ।

§9§ आज के ×× लोकप्रिय कवि भवानीप्रसाद मिश्र : सं. : पृ.

§10§ द्रष्टव्य : संदेश : गुजराती दैनिक : दिनांक : 15-3-99 ।

§11§ दिनांक को हिन्दी विभाग में हुए डा. कान्तिमोहन के व्याख्यान ।

§12§ द्रष्टव्य : काव्य के रूप : डा. गुलाबराय : पृ. 153 ।

§13§ " हिन्दी साहित्य : एक आधुनिक परिदृश्य " : अज्ञेय : पृ. 96 ।

§14§ चिन्तनिका : डा. पारूकांत देसाई :××× पृ. 29 ।

§15§ राग दरबारी : श्रीलाल शुक्ल : पृ. 41 ।

§16§ मैला आँचल : रेणु : पृ. 136 ।

§17§ प्रेम अपवित्र नदी : लक्ष्मीनारायण लाल : पृ. 279 ।

§18§ मानसमाला : डा. पारूकान्त देसाई : पृ. 25 ।

{19} सेवासदन : प्रेमचन्द : पृ. 124 ।

{20} वही : पृ. 128 ।

{21} मानसमाला : डा. पारुकान्त देसाई : पृ. 29 ।

{22} डा. आर.टी. जैन : " हेमिंग्वे – ओल्ड मैन एण्ड द सी " की आलोचना से : पृ. 17 ।

{23} कर्मभूमि : प्रेमचन्द : पृ. 114 ।

{24} मानसरोवर भाग-1 : प्रेमचन्द : पृ. 13 ।

{25} मानसरोवर भाग-5 : प्रेमचन्द : पृ. 296-297 ।

{26} कलम का सिपाही : अमृतराय : पृ. 46-47 ।

{27} राष्ट्रपिता महात्मा गांधी : श्री. एन.आर. अभ्यंकर : हिन्दी अनुवाद : श्री. आर.एस. केलकर : पृ. 138-139 ।

{28} भारत का सांस्कृतिक इतिहास : डा. हरिदत्त वेदालंकार : पृ. 277 ।

{29} वही : पृ. 275 ।

{30} संस्कृति के चार अध्याय : डा. रामधारीसिंह दिनकर : पृ. 592-593 ।

{31} लेख : अरुंधतीराय और उनके आलोचक : प्रमोद शा : हंस : मई-2001 : पृ. 42 ।